मुखौटे, रंगकर्म और आज का जीवन

जयदेव तनेजा

सामान्यतः जो चीज किसी के मुख को ओट में ले जाए या छिपा दे, उसे 'मुखौटा' कहते हैं। परंतु विशिष्ट अर्थ में मुखौटा वह वस्तु है जो उसे पहनने वाले मुख/चेहरे को छिपाने के साथ-साथ उसे एक नई शक्ल और पहचान भी देती है। मुखौटे के अनुरूप पहने गए वस्त्राभूषणों, उसी के उपयुक्त किये गए अंग-संचालन एवं क्रिया-कलापों और विशेष प्रकार की ध्वनियों तथा संगीत के साथ मिलकर मुखौटा, उसे धारण करने वाले को एक बिल्कुल नया व्यक्तित्व और चरित्र प्रदान कर देता है। प्रतिरूप निर्माण के धार्मिक निषेध के कारण इस्लामिक देशों के अपवाद को छोड़ कर मुखौटों का प्रचलन विश्व के लगभग सभी देशों और विशेषतः ग्रीस, भारत, अफ्रीका, श्रीलंका, जापान, इंडोनेशिया जैसे देशों में अनादिकाल से ही रहा है। देश, काल, जाति, धर्म, प्रदेश, समुदाय और संस्कृति की विविधताओं- भिन्नताओं के अनुरूप मुखौटों के रूप-रंग, आकार-प्रकार और उपयोग में भी भारी अंतर दिखाई देता है। मुखौटे मूलतः आदिवासी जन-जीवन के अभिन्न अंग के रूप में उनके धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक उत्सवों-समारोहों से हमेशा जुड़े रहे हैं। मुखौटा नृत्य आदिवासी और कई देहाती समुदायों का आज भी एक लोकप्रिय सांस्कृतिक क्रिया-कलाप है। विश्वास किया जाता है कि मुखौटों में आधिभौतिक शक्तियों का वास होता है और ये दृश्य और अदृश्य संसार को व्यक्त करने तथा 'आत्म' और 'अनात्म' में संबंध स्थापित करने में भी समर्थ होते हैं। मुखौटे देवताओं, राक्षसों, जानवरों, पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथा काल्पनिक चरित्रों की सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। ये भय, दुःख, क्रोध, हास इत्यादि विभिन्न मानवीय भावों तथा आवेगों को प्रकट करने का माध्यम होते हैं। इन्हें बनाने के लिए लकड़ी, धातुओं, चमड़ा, पत्थर, मिट्टी, कपड़ा, कागज, प्लास्टर ऑफ पेरिस, सजाने के लिए रंग, शंख, सीपी, कौड़ी चूड़ी, हाथी-दाँत, सींग, पंख, फर, सूत, बालों के लिए भेड़, हिरन और घोड़े के बालों तथा दाँतों के लिए चावल, लौकी-पेठा इत्यादि के बीजों तथा जोड़ने-चिपकाने के लिए मधुमक्खियों के मोम की गोंद जैसी सहज उपलब्ध वस्तुओं का बहुत समय तक उपयोग किया जाता रहा। माना जाता रहा है कि मुखौटों में पूर्वजों की आत्मा तथा अन्य अमानुषिक/दैवी प्रबल शक्तियों का वास होता है। इसलिए मुखौटा बनाने वाले को भी आचरण की शुद्धता और धार्मिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है। निर्माण प्रक्रिया में निर्दिष्ठ अनुष्ठानों, विधि-विधानों, रूढ़ियों इत्यादि को पूरी तरह मानना होता है। मुखौटों के लिए पारंपरिक चित्रावली, सजावट और रंग-संयोजन से बँधे होने पर भी कलाकार के लिए मौलिक सूझ-बूझ की गुंजाइश रहती है।

संसार भर में मुखौटों की एक विचित्र, जादुई, आकर्षक, रहस्यमयी और बहुरंगी अपनी अलग दुनिया है। उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार, उनकी उपयोगिता, प्रतीकात्मकता एवं अर्थवत्ता के बहुसंख्य आयाम हैं। इस संदर्भ में 20 फरवरी से 25 मार्च, 1998 को दिल्ली में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के माटी घर में डॉ. कपिला वात्स्यायन ने, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, संगीत नाटक अकादेमी तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सहयोग से रूप-प्रतिरूप नाम से मुखौटों की एक बड़ी, भव्य और महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय

प्रदर्शनी का आयोजन किया था। उसमें विश्व भर के 21 देशों की विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं परंपराओं का प्रामाणिक प्रतिनिधित्व करते सलीके से संयोजित 400 मुखौटों के साथ-साथ भारतीय तथा विदेशी मुखौटा-नृत्यों और ज्ञानवर्धक एवं उत्तेजक संगोष्ठियों का कार्यक्रम भी रखा गया था।

मुखौटों में किसी भी प्रकार की दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति के लिए वह आयोजन निश्चय ही एक सुखकर, महत्वपूर्ण और यादगार जीवन-अनुभव था। इस समारोह ने तमाम विभिन्नताओं के बावजूद मानव-मन के मूलभूत विश्वासों, भावों, सरोकारों, कल्पनाओं और अभिव्यक्तियों के कला-रूपों की सार्वभौमिक एकसूत्रता को खूबसूरती से रेखांकित किया।

'रूप-प्रतिरूप' नामक इस विश्वस्तर की महत्वाकांक्षी प्रदर्शनी की प्रबुद्ध एवं अतिउत्साही जननी डॉ. कपिला वात्स्यायन के अनुसार मुखौटों के होने का पहला संदर्भ या संकेत हमें लगभग 30,000 वर्ष ईसा पूर्व (जिन्हें कुछ इतिहासकार 10,000 वर्ष ई.पू. भी मानते हैं) की चट्टानों पर उकेरे गए चित्रों में ही मिलता है। उसके बाद तो शक्तिशाली मुखौटों का एक अनवरत इतिहास ही मिलने लगता है।

मुखौटों के ठोस और प्रत्यक्ष प्रमाण 2040-1786 ई.पू. से लेकर ईसवी की पहली शताब्दी के बीच प्राचीन मिस्र से मिले हैं। सोने और चाँदी के ये मुखौटे बड़े लोगों के अंतिम संस्कार के समय मृतकों के चेहरों पर लगाए जाते थे। सामान्य जन के चेहरे पर प्लास्टर किए कपड़े के मुखौटे को चित्रित करके लगाने का रिवाज था। रोम में अपने पुरखों के चेहरों पर लगाए जाते थे। मुखौटे मृतक के साथ दफना देने के बजाए संभाल कर रखने की प्रथा थी, जिन्हें वे पारिवारिक समारोहों के समय सम्मान एवं गर्व से प्रदर्शित करते थे। संभवतः मुखौटों का प्राचीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए आत्म-सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा। इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, युद्ध के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हैलमेट) का प्रयोग तो आज भी खूब किया जाता है।

पाषाण युग के आरंभिक, अनगढ़ और कलाक्षीण मुखौटों से लेकर आज के गतिशील हिस्सों वाले मैकेनीकल मुखौटों और प्लास्टिक सर्जरी से बन रहे व्यक्ति के स्थाई नकली चेहरों (मुखौटों) तक मानव जाति के साथ-साथ इन्होंने भी एक लंबी यात्रा तय की है। धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रादेशिक क्षेत्रों में कई मंजिलें पार करते हुए अब इन्होंने आधुनिक जीवन एवं समाज में एक सजावटी वस्तु या कलाकृति के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बना ली है।

मुखौटे लोकजीवन, लोकनृत्य और लोकनाट्य का तो हमेशा से अभिन्न अंग रहे ही हैं, लेकिन शास्त्रीय और आधुनिक नाटकों के साथ भी इनका बहुविध एवं गहरा रिश्ता रहा है। रूपक की बुनियादी शर्त है अभिनेता का रूपांतरण और नाटक तथा मुखौटा दोनों ही इस शर्त को समान रूप से पूरा करते हैं। इसलिए निश्चित और निभ्रांत रूप से यह कह पाना कठिन है कि पहले मुखौटा आया या नाटक ? फिर भी, अनुमान ये लगाया जाता है कि अनेक व्यावहारिक कारणों से छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानी नाटककार थैस्पिस ने

अपनी त्रासदी नाट्य रचनाओं के लिए पहले पहल रंगमंच पर मुखौटों का इस्तेमाल किया। मध्यकाल में 12वीं से 16वीं शताब्दी के बीच उभरे रहस्य-नाटकों में और 15वीं से 18वीं शताब्दी के बीच इटली से चलकर फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड तक पहुँचे कामेडिया-देल-आर्ते के हास्य नाटकों में भी मुखौटों का भरपूर उपयोग होता रहा। जापान में 14वीं शताब्दी में लोकप्रिय हुए नोह नाटकों में 125 तरह के (जिन सबके अलग-अलग नाम हैं) मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। उन्नीसवीं और विशेषतः बीसवीं शती में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास और प्राचीन एवं लोक संस्कृतियों के हास के कारण, कुछेक अपवादों को छोड़कर, रंगकर्म से मुखौटों का रिश्ता लगातार कमजोर पड़कर टूटता गया और मुखौटा एक कलाकृति अथवा सजावट की चीज बनकर रह गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में अफ्रीका के आदिवासी और कबीलाई मुखौटों ने फ्रांस और जर्मन चित्रकारों को काफी प्रभावित और प्रेरित भी किया। परंतु कुल मिलाकर आज मुखौटे मुख्यतः कलाप्रेमी पर्यटकों, नुमाइशों या अजायबघरों की चीज बनकर रह गए हैं।नए साल और क्रिसमस की शाम तथा कुछ खास पार्टियों और बच्चों के मनोरंजन के लिए भी मुखौटों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। आधुनिक सभ्यता और शहरों में आकर मुखौटों से जुड़ी पवित्रता, आध्यात्मिकता, जादुई शक्ति और रहस्यता पूरी तरह समाप्त हो गई है। अब उनकी ताकत खेत में खड़े विजूके से अधिक नहीं रह गई है। जहाँ तक हिंदी रंगकर्म का प्रश्न है अधिकतर मुखौटों का प्रयोग यहाँ एक मंच उपकरण, प्रतीक या नाटकीय रूढ़ि के रूप में ही किया गया है।

1. फ्रांस, स्पेन, तंजानियाँ, अल्जीरिया, लीबिया, कजाकिस्तान, मैक्सिको, स्वीडन, पेरू और कनाडा की अनेक गुफाओं तथा कंदराओं में प्रागैतिहासिक मुखौटों के पाषाण-चित्रों (रॉक पेंटिंग्स) के रूप में पुरातत्ववेत्ताओं एवं खोजी इतिहासकारों की काफी सामग्री है। हमारे यहाँ मोहनजोदड़ो-हड़प्पा से टैरेकोटा पर अंकित मुखौटे मिले हैं और मध्य प्रदेश में भोपाल के पास भीमबेटका भी इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल बन गया है।

हिंदी नाटकों में चरित्र अथवा प्रतीकात्मक रूप में पशु-पक्षियों के सादृश्यमूलक मुखौटों का इस्तेमाल अधिकांश बाल नाटकों में हुआ है। बिल्ली, बंदर, भालू, चीता, शेर, खरगोश, चूहा, कुत्ता, लोमड़ी, गिलहरी इत्यादि पंचतंत्र और अन्य अनेक बाल कथाओं के चिर-परिचित चरित्र हैं जो पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों और चाँद सितारों की ही तरह कल्पनाशील बाल-मन के बहुत निकट पड़ते हैं। मनोरंजन और शिक्षा के उद्देश्य से, मुखौटों के जरिए, इन्हें मंच पर भरपूर इस्तेमाल किया गया है। परियों और राक्षसों संबंधी नाटकों में भी मुखौटों का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है।

डॉ. धर्मवीर भारती का अंधायुग आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यूँ तो गांधारी की आँखों पर बँधी पट्टी भी मुखौटे का ही एक रूप मानी जा सकती है। परंतु तीसरे अंक में अश्वत्थामा के अर्द्धसत्य की प्राप्ति के संदर्भ में रचनाकार ने कौए और उल्लू का जो प्रतीकात्मक उपयोग किया है, वह सचमुच बहुत सार्थक और रोचक है। यहाँ काले कपड़े पहने और कौए का मुखौटा लगाए सोए हुए नर्तक शिशु पर उल्लू का मुखौटा लगाए श्वेतवसनधारी नर्तक शिशु के आक्रमण तथा उलूक के वधोल्लास एवं तांडव को देख-सुन कर ही अश्वत्थामा को शिविर में सोए निहत्थे और अचेत पांडवों को

मार डालने का विचार आता है। एम.के. रैना ने अंधायुग के प्रस्तुतीकरण में क्रूर नरपशु अश्वत्थामा के पाश्विक चरित्र को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट रूप-विन्यास के साथ-साथ छड़ी वाले एक दुष्ट मुखौटे का भी प्रयोग किया था, जिसे अपने हाथ में पकड़कर अश्वत्थामा (जी.पी. नामदेव) कई अवसरों पर कई तरह से इस्तेमाल करके नाट्यानुभव को सघन एवं तीव्र बनाता है। आषाढ़ का एक दिन में आहत हरिण शावक को बाँहों में लिए कालिदास के मंच पर प्रथम प्रवेश के समय यद्यपि मोहन राकेश ने हरिण शावक के मुखौटे का कोई स्पष्ट निर्देश तो नहीं दिया है, परंतु इतना तो स्पष्ट है कि 'अनामिका' द्वारा 18 सितंबर, 1960 को कलकत्ता के न्यू एम्पायर' तथा 'एशियन ड्रामा सोसाइटी' द्वारा 12 मार्च, 1964 को दिल्ली के सप्रू हाउस में प्रस्तुत इस नाटक के श्यामानंद जालान और प्राणनाथ तुगनैत जैसे यथार्थवाद के प्रति अति उत्साही नाट्य निर्देशकों की तरह कोई भी अनुभवी एवं प्रबुद्ध निर्देशक अब किसी जिंदा हरिण शावक को मंच पर लाने का दुःस्साहस नहीं करेगा। इसी प्रकार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक सगुन पंछी में यद्यपि नीलकंठ, तोता, मैना और जंगल के अन्य पक्षियों के लिए स्पष्टतः मुखौटों का निर्देश नहीं दिया है, परंतु 11 फरवरी, 1976 को कानपुर के 'मर्चेट्स चेंबर हाल' में बंसी कौल जैसे प्रशिक्षित एवं अनुभवी निर्देशक ने जब इसे प्रस्तुत किया तो निःसंकोच इन सब पात्रों के लिए मुखौटों का ही प्रयोग किया। इनसे स्त्री-पुरुष संबंधों का यह नाट्यप्रदर्शन निश्चय ही अधिक दिलचस्प और जीवंत बन गया है। वैसे भी, बंसी कौल शायद समकालीन रंगमंच के अकेले ऐसे नाट्य निर्देशक हैं जिन्हें मुखौटों या मुखौटों जैसी रूप-सज्जा से बेहद लगाव है। उनके विदूषकीय नाटकों में इसी प्रकार की रूप-सज्जा का अत्यंत रचनात्मक और नाटकीय प्रयोग देखने को मिलता है।

पशु-पक्षियों के मुखौटों की दृष्टि से रंजीत कपूर की खूबसूरत बहू में बैल, एम.एस. सथ्यू की बकरी में बकरी, वाल्फ्रेम मेहरिंग की बिल्ली चली पहनकर जूता में बिल्ली के मुखौटों के प्रयोग दिलचस्प और मनोरंजक होने के साथ-साथ आलेखों की अनिवार्यता भी थी। इसके विपरीत लव लैटर्स और चार दिन में अरुण कुकरेजा ने मुखौटों का इस्तेमाल अपने निर्देशकीय अधिकार का प्रयोग करते हुए प्रदर्शनों को दृश्यात्मक दृष्टि से व्याख्यायित करने और समृद्ध बनाने के लिए किया था। गिरीश कर्नाड के नाटक हयवदन में घोड़े के मुखौटे की तो ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका है कि उसके बिना इसकी किसी उल्लेखनीय प्रस्तुति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अपने पूर्ण होने के लिए बेचैन और दर-दर भटकते हयवदन यानी घोड़े के चेहरे और मनुष्य की देह वाले इस अद्भुत चरित्र की कथा देवदत्त और कपिल के माध्यम से संपूर्ण पुरुष की तलाश करती असंतुष्ट एवं अतृप्त पद्मिनी की आधिकारिक की पूरक है उसके समानांतर ही चलती है। यही नहीं, इस नाटक में रचनाकार ने प्रमुख चरित्र देवदत्त और कपिल के सिरों की अदला-बदली के लिए भी मुखौटों की ही कल्पना की है, परंतु मजेदार बात ये है कि इस नाटक की अपनी प्रस्तुतियों में लगभग सभी उल्लेखनीय निर्देशकों ने नाटककार के इस निर्देश का पालन नहीं किया। दिल्ली में ब.व. कारंत, मुंबई में सत्यदेव दुबे और कोलकाता में राजिंदर नाथ ने अपने प्रदर्शनों में इस समस्या का हल मुखौटे बदलने के बजाय देवदत्त और कपिल की परस्पर वेषभूषा बदल कर किया। इससे दोनों पात्रों की आवाज संबंधी स्वाभाविकता की रक्षा भी हो गई और इनके लिए मुखौटों की जरूरत भी नहीं पड़ी। बिल्कुल इसी युक्ति का प्रयोग राजिंदर नाथ ने विजय तेंदुलकर के नाटक हत् तेरी किस्मत में भी दो पात्रों के

चेहरों की अदला-बदली के लिए भी इसी तरह किया था। वैसे हयवदन पूरी तरह मुखौटों का ही नाटक है। घोड़े, देवदत्त और कपिल के मुखौटों की चर्चा हम कर ही चुके हैं। इनके अतिरिक्त, इस नाटक का आरंभ गणेश-वंदना से होता है, जिसके लिए मंच के बीचों-बीच रखी कुर्सी पर गणेश का मुखौटा रखा जाता है। काली माँ की जीवंत उपस्थिति और वार्तालाप करती दोनों पुतलियों की मुखौटों के बिना भी काम नहीं चलता। अतः स्पष्ट है कि नाटक में मुखौटों के सार्थक एवं नाटकीय प्रयोग की दृष्टि से गिरीश कर्नाड का हयवदन समस्त आधुनिक भारतीय नाटकों में संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चर्चित एवं अभिमंचित नाटक है।

नाटककार-अभिनेता-निर्देशक बृजमोहन शाह ने भी अपने नाट्य-प्रदर्शनों में मुखौटों का आकर्षक और अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। अपने प्रसिद्ध एवं बहुमंचित व्यंग्यनाटक त्रिशंक में, उन्होंने कई चरित्रों को उनके वर्ग का प्रतिनिधि बनाने के लिए मुखौटों का इस्तेमाल किया है। लीडर, अफसर, सेठ और मध्यवर्ग की युवती, पुलिस का सिपाही, आफिस का बाबू तथा ज्योतिषी जैसे पात्रों को मुखौटे पहनाए गए हैं। नाटक के मध्य तक पहुँचकर थिएटर वाला अपने सद्य लिखे नाट्यालेख का प्रस्तुतीकरण शुरू करने से पहले यह कहकर कि "आडंबर के अंधे माहौल से उबर कर देखो, हकीकत के धरातल पर उतर कर देखो, पाखंडी मुखौटों को ताक पर रखकर देखो-सब साफ हो जाएगा।" उनके मुखौटे उतरवा देता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात ये है कि नाटककार शायद बुद्धिजीवी को मध्यवर्ग का (ढोंगी चरित्र नहीं मानता, इसीलिए उसे मुखौटा नहीं पहनाता। यही स्थिति निम्नवर्ग के पात्रों की भी है। वास्तविकता यह है कि आज के झूठे और मिलावटी समय एवं समाज में किसी भी वर्ग का कोई भी व्यक्ति इस मुखौटा-धर्म से पूरी तरह मुक्त नहीं है। बुद्धिजीवी को उसके वर्ग से अलग करके स्वतंत्र एवं मुखौटाहीन रूप में चित्रित करना एक प्रकार का आत्मछल अथवा पूर्वाग्रह ही है। रचनाकार का यह पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण उसकी सामाजिक-आलोचना तथा जाँच-पड़ताल की वैज्ञानिक तटस्थता को बाधित करता है। मुद्राराक्षस ने दफ्तरी कामकाजी एकरस जिंदगी पर आधारित अपने नाटक योअर्स फेथफुली में अफसर को छोड़कर शेष सभी (तीनों क्लर्क, स्टेनोग्राफर, लड़की, डिस्पैचर और चपरासी) पात्रों के लिए मुखौटों या मुखौटों जैसे चेहरों का निर्देश दिया है। निर्देशक बृजमोहन शाह ने सन् 1972 में जब लिटिल थिएटर ग्रुप के लिए इस नाटक का पहला प्रस्तुतीकरण किया तो उन्होंने दफ्तर के गलाजत भरे वातावरण, मशीनी कार्य-व्यापार और अंधे-अपरिवर्तनीय नियमों-कानूनों को नाटकीय ढंग से साकार करने के लिए सभी कर्मचारियों को सफेदी पुते एक जैसे चेहरे दिए थे। उनके संयोजनों और उनकी गतियों में एकदम ज्यामैट्री की सीधी रेखाओं का तथा मशीनी कार्य-व्यापार के लिए शैलीबद्धता का प्रयोग किया था, नाटककार के निर्देश-संकेत से अलग हट कर शाह ने अफसर को दाढ़ी-मूंछ लगाकर काले चेहरे में प्रस्तुत किया था, क्योंकि वे अफसरशाही की अप्रकट कालिख को मंच पर मूर्त रूप देना चाहते थे, परंतु इस युक्ति से नाट्यालेख की मूल व्यंजना और विडंबना काफी स्थूल एवं अभिधात्मक हो गई, क्योंकि नाटक को पढ़ते समय अंत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक एक ऐसी स्थिति से साक्षात्कार करता है जहाँ मुखौटाहीन अफसर मुखौटाधारी और मुखौटाधारी कर्मचारी बेमुखौटा। नेजर आने लगते हैं। मुखौटे जैसे रूप-विन्यास का सीमित प्रयोग तो शाह ने सराय की मालकिन, नौकर शैतान मालिक हैरान और गोदो के इंतजार जैसे कुछ अन्य नाटकों में भी किया था। ब.व. कारंत ने आलेख में कोई निर्देश

न होने के बावजूद मणि मधुकर के रस गंधर्व में मुखौटों का आकर्षक उपयोग किया था और बरनमवन में चुड़ैलों के मुखौटे भी खूब छाए हुए थे।

कभी-कभी किसी अमूर्त अवधारणा को चरित्र के रूप में मूर्त करने के लिए भी मुखौटे का इस्तेमाल नाटक में किया जाता है। मणि मधुकर के नाटक खेला पोलमपुर में तीन भूतों पर अतिरिक्त एक काली आकृति भी है। यह काली आकृति वास्तव में मौत महारानी की है। यद्यपि नाटककार ने इस डरावनी आवाजों और भयावह रंग-रूप वाले चरित्र के लिए कोई निर्देश नहीं दिया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कोई भी सूझ-बूझ वाला निर्देशक इस चरित्र के लिए किसी भयोत्पादक मुखौटे का प्रयोग अवश्य करना चाहेगा।

हम जानते हैं कि पूरा चेहरा ढक लेने वाले अचल मुखौटों के कारण अभिनेता को अभिव्यक्ति के लिए पूरे शरीर से काम लेना पड़ता है और यह प्रक्रिया अभिनय को पैंटोमाइम के काफी निकट ले जाती है, परंतु इटली में इस समस्या का समाधान आधे मुखौटों से किया गया। वहाँ विशेष प्रकृति वाले स्थाई चरित्र को दिखाने के लिए आधे मुखौटे का प्रयोग काफी लोकप्रिय हुआ। इससे निरावृत्त निचले जबड़े का स्वाभाविक अभिनय के लिए स्वतंत्र प्रयोग किया जा सकता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत बादल सरकार के नाटक पगला घोड़ा में निर्देशक सत्यदेव दुबे ने चार लड़कियों की भूमिका करने वाली महिला कलाकार के लिए आधे मुखौटे का ही कल्पनाशील प्रयोग किया था। इस युक्ति से मुखौटे द्वारा सामान्य युवती/नारी के स्थाई चरित्र और चेहरे के निचले अनावृत्त हिस्से द्वारा विशिष्ट लड़कियों के 'अलग-अलग चरित्रों को अपेक्षाकृत आसानी से प्रस्तुत किया जा सका। इस प्रकार के दिलचस्प प्रयोग हिंदी रंगमंच पर कुछ अन्य निर्देशकों ने सफलतापूर्वक किए हैं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए खड़िया का घेरा प्रस्तुत करते हुए कार्ल वैबर ने भी संभवतः इसी प्रकार के आधे मुखौटों का ही इस्तेमाल किया था।

यूँ तो ज्ञानदेव अग्निहोत्री के बहुमंचित व्यंग्य-नाटक शुतुरमुर्ग में राजा द्वारा पहना गया शुतुरमुर्ग के राज्य-चिह्न वाला मुकुट भी एक प्रकार का मुखौटा या अर्द्ध-मुखौटा ही है, परंतु नाटक के अंत में तो स्वयं नाटककार ने ही चारों मंत्रियों के लिए भयंकर आकृति वाले मुखौटों की योजना की है, जिन्हें देखकर राजा को लगता है कि उनके वास्तविक चेहरे दरअसल नकली चेहरे थे और मुखौटों में उनके असली कुरूप चेहरे प्रकट हुए हैं। मुखौटों और चेहरों के असली-नकली होने की यह विडंबना अत्यंत नाटकीय और दिलचस्प है। सत्यदेव दुबे ने अपनी प्रस्तुति में चारों मंत्रियों को क्रमशः जॉनसन, माओ, स्टालिन और सी.पी.आई. के मुखौटे दिए थे। स्पष्ट है कि निर्देशक अपनी इच्छा और विचारधारा के अनुरूप अथवा तात्कालिक राजनीतिक स्थितियों पर अपनी टिप्पणी करने के लिए इन मुखौटों को कोई भी रूपाकृति प्रदान कर सकता है।

मुखौटों का सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय रूप है-पौराणिक पात्रों के मुखौटे। मौलिक हिंदी नाटकों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कई नाटकों में इनका प्रयोग किया है। वैसे तो महाभारत के पाँचों पांडव

चरित्रों पर आधारित उनके नाटक यक्ष प्रश्न में भी कोई निर्देशक यक्ष के लिए उपयुक्त मुखौटों की परिकल्पना सहज ही कर सकता है। परंतु सूर्यमुख में तो स्वयं नाटककार ने ही इनके प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है। कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न अपनी सबसे छोटी और हमउम्र माँ वेनुरति के प्रथम दर्शन में ही उससे प्रेम कर बैठता है। यह निश्छल, नैसर्गिक और स्वाभाविक प्रेम धर्म, परिवार और समाज की अतार्किक तथा कठोर मर्यादाओं एवं मान्यताओं के विपरीत पड़ता है। वे दोनों सच्चे और पवित्र प्रेमी धार्मिक-सामाजिक संकीर्ण नियमों-कानूनों से अपमानित, कलंकित और दंडित होते हैं। प्रद्युम्न इन सबसे बचने के लिए मुखौटा लगाकर छद्म रूप में नागकुंड की पहाड़ियों में जा छिपता है। वह स्वयं द्वारिका से आत्म-निर्वासित है। वेनुरती प्रद्युम्न को आग्रहपूर्वक मुखौटा तोड़कर अपने स्वाभाविक सूर्यमुख में प्रकट हो द्वारिकावासियों के भ्रम, संशय दूर करने और अपने विरुद्ध किए जा रहे षड्यंत्र को खत्म करने का आवाहन करती है। जरा की हत्या करके उसका राजनीतिक लाभ उठाने को तत्पर वधू और व्यासपुत्र की क्रूर चुनौती का सटीक उत्तर देने के लिए अंततः साहसपूर्वक प्रद्युम्न दोनों हाथों से अपने मुखौटे को चीर फेंकता है और जरा को हिंसा विरोधियों के चंगुल से छुड़ा लेता है। चरित्र की वास्तविक पहचान छिपाने के प्रयोजन से यहाँ मुखौटे का अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। यदुकुल की असंख्य विधवाओं/ स्त्रियों को अपने साथ ले जाने के लिए द्वारिका आए अर्जुन का विरोध और अपना शक्ति-प्रदर्शन करने के लिए वभ्रु यदुवंशियों को अर्जुन को घेर कर मुखौटा-नृत्य करने का आदेश देता है। मुखौटा नृत्य की तीव्र गतियों और आक्रामक मुद्राओं से हतप्रभ होकर अर्जुन वहाँ से भाग निकलने का प्रयत्न करता है।

नाटककार-अभिनेता-निर्देशक बृजमोहन शाह ने भी अपने नाट्य-प्रदर्शनों में मुखौटों का आकर्षक और अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। अपने प्रसिद्ध एवं बहुमंचित व्यंग्यनाटक त्रिशंक में, उन्होंने कई चरित्रों को उनके वर्ग का प्रतिनिधि बनाने के लिए मुखौटों का इस्तेमाल किया है। लीडर, अफसर, सेठ और मध्यवर्ग की युवती, पुलिस का सिपाही, आफिस का बाबू तथा ज्योतिषी जैसे पात्रों को मुखौटे पहनाए गए हैं। नाटक के मध्य तक पहुँचकर थिएटर वाला अपने सद्य लिखे नाट्यालेख का प्रस्तुतीकरण शुरू करने से पहले यह कहकर कि "आडंबर के अंधे माहौल से उबर कर देखो, हकीकत के धरातल पर उतर कर देखो, पाखंडी मुखौटों को ताक पर रखकर देखो-सब साफ हो जाएगा।" उनके मुखौटे उतरवा देता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात ये है कि नाटककार शायद बुद्धिजीवी को मध्यवर्ग का (ढोंगी चरित्र नहीं मानता, इसीलिए उसे मुखौटा नहीं पहनाता। यही स्थिति निम्नवर्ग के पात्रों की भी है। वास्तविकता यह है कि आज के झूठे और मिलावटी समय एवं समाज में किसी भी वर्ग का कोई भी व्यक्ति इस मुखौटा-धर्म से पूरी तरह मुक्त नहीं है। बुद्धिजीवी को उसके वर्ग से अलग करके स्वतंत्र एवं मुखौटाहीन रूप में चित्रित करना एक प्रकार का आत्मछल अथवा पूर्वाग्रह ही है। रचनाकार का यह पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण उसकी सामाजिक-आलोचना तथा जाँच-पड़ताल की वैज्ञानिक तटस्थता को बाधित करता है। मुद्राराक्षस ने दफ्तरी कामकाजी एकरस जिंदगी पर आधारित अपने नाटक योअर्स फेथफुली में अफसर को छोड़कर शेष सभी (तीनों क्लर्क, स्टेनोग्राफर, लड़की, डिस्पैचर और चपरासी) पात्रों के लिए मुखौटों या मुखौटों जैसे चेहरों का निर्देश दिया है। निर्देशक बृजमोहन शाह ने सन् 1972 में जब लिटिल थिएटर ग्रुप के लिए इस नाटक का पहला प्रस्तुतीकरण किया तो उन्होंने दफ्तर के गलाजत भरे वातावरण, मशीनी कार्य-व्यापार और अंधे-अपरिवर्तनीय नियमों-कानूनों

को नाटकीय ढंग से साकार करने के लिए सभी कर्मचारियों को सफेदी पुते एक जैसे चेहरे दिए थे। उनके संयोजनों और उनकी गतियों में एकदम ज्यामैट्री की सीधी रेखाओं का तथा मशीनी कार्य-व्यापार के लिए शैलीबद्धता का प्रयोग किया था, नाटककार के निर्देश-संकेत से अलग हट कर शाह ने अफसर को दाढ़ी-मूंछ लगाकर काले चेहरे में प्रस्तुत किया था, क्योंकि वे अफसरशाही की अप्रकट कालिख को मंच पर मूर्त रूप देना चाहते थे, परंतु इस युक्ति से नाट्यालेख की मूल व्यंजना और विडंबना काफी स्थूल एवं अभिधात्मक हो गई, क्योंकि नाटक को पढ़ते समय अंत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक एक ऐसी स्थिति से साक्षात्कार करता है जहाँ मुखौटाहीन अफसर मुखौटाधारी और मुखौटाधारी कर्मचारी बेमुखौटा। नेजर आने लगते हैं। मुखौटे जैसे रूप-विन्यास का सीमित प्रयोग तो शाह ने सराय की मालकिन, नौकर शैतान मालिक हैरान और गोदो के इंतजार जैसे कुछ अन्य नाटकों में भी किया था। ब.व. कारंत ने आलेख में कोई निर्देश न होने के बावजूद मणि मधुकर के रस गंधर्व में मुखौटों का आकर्षक उपयोग किया था और बरनमवन में चुड़ैलों के मुखौटे भी खूब छाए हुए थे।

कभी-कभी किसी अमूर्त अवधारणा को चरित्र के रूप में मूर्त करने के लिए भी मुखौटे का इस्तेमाल नाटक में किया जाता है। मणि मधुकर के नाटक खेला पोलमपुर में तीन भूतों पर अतिरिक्त एक काली आकृति भी है। यह काली आकृति वास्तव में मौत महारानी की है। यद्यपि नाटककार ने इस डरावनी आवाजों और भयावह रंग-रूप वाले चरित्र के लिए कोई निर्देश नहीं दिया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कोई भी सूझ-बूझ वाला निर्देशक इस चरित्र के लिए किसी भयोत्पादक मुखौटे का प्रयोग अवश्य करना चाहेगा।

हम जानते हैं कि पूरा चेहरा ढक लेने वाले अचल मुखौटों के कारण अभिनेता को अभिव्यक्ति के लिए पूरे शरीर से काम लेना पड़ता है और यह प्रक्रिया अभिनय को पैंटोमाइम के काफी निकट ले जाती है, परंतु इटली में इस समस्या का समाधान आधे मुखौटों से किया गया। वहाँ विशेष प्रकृति वाले स्थाई चरित्र को दिखाने के लिए आधे मुखौटे का प्रयोग काफी लोकप्रिय हुआ। इससे निरावृत्त निचले जबड़े का स्वाभाविक अभिनय के लिए स्वतंत्र प्रयोग किया जा सकता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत बादल सरकार के नाटक पगला घोड़ा में निर्देशक सत्यदेव दुबे ने चार लड़कियों की भूमिका करने वाली महिला कलाकार के लिए आधे मुखौटे का ही कल्पनाशील प्रयोग किया था। इस युक्ति से मुखौटे द्वारा सामान्य युवती/नारी के स्थाई चरित्र और चेहरे के निचले अनावृत्त हिस्से द्वारा विशिष्ट लड़कियों के 'अलग-अलग चरित्रों को अपेक्षाकृत आसानी से प्रस्तुत किया जा सका। इस प्रकार के दिलचस्प प्रयोग हिंदी रंगमंच पर कुछ अन्य निर्देशकों ने सफलतापूर्वक किए हैं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए खड़िया का घेरा प्रस्तुत करते हुए कार्ल वैबर ने भी संभवतः इसी प्रकार के आधे मुखौटों का ही इस्तेमाल किया था।

यूँ तो ज्ञानदेव अग्निहोत्री के बहुमंचित व्यंग्य-नाटक शुतुरमुर्ग में राजा द्वारा पहना गया शुतुरमुर्ग के राज्य-चिह्न वाला मुकुट भी एक प्रकार का मुखौटा या अर्द्ध-मुखौटा ही है, परंतु नाटक के अंत में तो स्वयं नाटककार ने ही चारों मंत्रियों के लिए भयंकर आकृति वाले मुखौटों की योजना की है, जिन्हें देखकर राजा को लगता है कि उनके वास्तविक चेहरे दरअसल नकली चेहरे थे और मुखौटों में उनके असली कुरूप चेहरे

प्रकट हुए हैं। मुखौटों और चेहरों के असली-नकली होने की यह विडंबना अत्यंत नाटकीय और दिलचस्प है। सत्यदेव दुबे ने अपनी प्रस्तुति में चारों मंत्रियों को क्रमशः जॉनसन, माओ, स्टालिन और सी.पी.आई. के मुखौटे दिए थे। स्पष्ट है कि निर्देशक अपनी इच्छा और विचारधारा के अनुरूप अथवा तात्कालिक राजनीतिक स्थितियों पर अपनी टिप्पणी करने के लिए इन मुखौटों को कोई भी रूपाकृति प्रदान कर सकता है।

मुखौटों का सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय रूप है-पौराणिक पात्रों के मुखौटे। मौलिक हिंदी नाटकों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कई नाटकों में इनका प्रयोग किया है। वैसे तो महाभारत के पाँचों पांडव चरित्रों पर आधारित उनके नाटक यक्ष प्रश्न में भी कोई निर्देशक यक्ष के लिए उपयुक्त मुखौटों की परिकल्पना सहज ही कर सकता है। परंतु सूर्यमुख में तो स्वयं नाटककार ने ही इनके प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है। कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न अपनी सबसे छोटी और हमउम्र माँ वेनुरति के प्रथम दर्शन में ही उससे प्रेम कर बैठता है। यह निश्छल, नैसर्गिक और स्वाभाविक प्रेम धर्म, परिवार और समाज की अतार्किक तथा कठोर मर्यादाओं एवं मान्यताओं के विपरीत पड़ता है। वे दोनों सच्चे और पवित्र प्रेमी धार्मिक-सामाजिक संकीर्ण नियमों-कानूनों से अपमानित, कलंकित और दंडित होते हैं। प्रद्युम्न इन सबसे बचने के लिए मुखौटा लगाकर छद्म रूप में नागकुंड की पहाड़ियों में जा छिपता है। वह स्वयं द्वारिका से आत्म-निर्वासित है। वेनुरती प्रद्युम्न को आग्रहपूर्वक मुखौटा तोड़कर अपने स्वाभाविक सूर्यमुख में प्रकट हो द्वारिकावासियों के भ्रम, संशय दूर करने और अपने विरुद्ध किए जा रहे षड्यंत्र को खत्म करने का आवाहन करती है। जरा की हत्या करके उसका राजनीतिक लाभ उठाने को तत्पर वधू और व्यासपुत्र की क्रूर चुनौती का सटीक उत्तर देने के लिए अंततः साहसपूर्वक प्रद्युम्न दोनों हाथों से अपने मुखौटे को चीर फेंकता है और जरा को हिंसा विरोधियों के चंगुल से छुड़ा लेता है। चरित्र की वास्तविक पहचान छिपाने के प्रयोजन से यहाँ मुखौटे का अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। यदुकुल की असंख्य विधवाओं/ स्त्रियों को अपने साथ ले जाने के लिए द्वारिका आए अर्जुन का विरोध और अपना शक्ति-प्रदर्शन करने के लिए वभ्रु यदुवंशियों को अर्जुन को घेर कर मुखौटा-नृत्य करने का आदेश देता है। मुखौटा नृत्य की तीव्र गतियों और आक्रामक मुद्राओं से हतप्रभ होकर अर्जुन वहाँ से भाग निकलने का प्रयत्न करता है।

नाटककार-निर्देशक अभिनेता डॉ. लाल का नाटक कलंकी तंत्र-साधना के पौराणिक परिवेश और कर्मकांड के माध्यम से आधुनिक जीवन, राजतंत्र और युगबोध के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। स्वभावतः इसमें तांत्रिक और अवधूत जैसे चरित्र आए हैं। नाटककार लाल ने अवधूत को ताड़ के गोल पंखे के पीछे मुँह छिपाए रखने का निर्देश दिया है। यह वास्तव में हेरूप के पिता अकुलक्षेम (की आत्मा) है जो अवधूत के मुखौटे के पीछे अपना असली चेहरा छिपाए है। निर्देशक लाल ने मई 1968 में अपने नाट्य संवाद के लिए इस नाटक को आइफैक्स प्रेक्षागृह में पहली बार प्रस्तुत किया तो अवधूत के लिए ताड़ के गोल पंखे की बजाए उभरी हुई आँखों वाले एक अजीब से अर्द्धचंद्राकार मुखौटे का इस्तेमाल किया था जो उसकी काली वेशभूषा और पैरों की सफेद धारियों के साथ मिलकर एक भयप्रद और रहस्यर्मोय प्रभाव की सृष्टि करता था। उस

नाट्य-प्रदर्शन में अवधूत के इस मायावी से मुखौटे, परिधान और तंत्र-मंत्र जैसी ध्वनियों ने नाटक के मिथकीय एवं जादुई प्रभाव को बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई थी।

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपने महाभारतकालीन परिवेश के आधुनिक नाटक इला में यद्यपि इला को सुद्युम्न और सुद्युम्न को इला'रूप में बदलने के लिए स्त्री और पुरुष दो कलाकारों को प्रयोग करने का निर्देश दिया है, किंतु यदि निर्देशक चाहे तो यहाँ मुखौटे का इस्तेमाल करके एक ही कलाकार से दोनों भूमिकाएँ भी करवा सकता है।

नाटक में मुखौटों के सार्थक एवं प्रभावशाली प्रयोग संबंधी कोई भी चर्चा गिरीश कर्नाड की सुविख्यात नाट्य-कृति अग्नि और बरखा की गंभीर चर्चा किए बिना पूरी नहीं हो सकती। महाभारत के वन पर्व में आई यवक्री और परावसु की अत्यंत संक्षिप्त एवं अवांतर कथा पर आधारित इस नाटक में रचनाकार ने पौराणिक परिवेश और पात्रों के अनुकूल मुखौटों का प्रयोग उनकी प्राचीन महत्ता, शक्ति, पवित्रता और प्रभावशीलता के साथ किया है। मुखौटा यहाँ एक नाट्य- रूढ़ि या युक्ति मात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व और चरित्र है। यूँ तो अग्नि और बरखा का आरंभ ही एक ब्रह्म राक्षस की लगभग नग्न आकृति से होता है, परंतु नाटककार ने उसके किसी मुखौटे का कोई उल्लेख नहीं किया है।

मुखौटे का उल्लेख तीसरे अंक के अंत में नाट्य-मंडली द्वारा प्रस्तुत नाटक इंद्र विजय (भगवान इंद्र और वृत्रासुर संग्राम) की तैयारी के दौरान कर्तानट द्वारा अरवसु को वृत्रासुर का मुखौटा और वेशभूषा देने के समय होता है। कनिट अरवस को निर्देश देता है कि, "यह लो। ये वृत्रासुर का मुखौटा है। अब अपने आप को समर्पित कर दो इस मुखौटे को। समर्पित हो जाओ और इसी में चेतन को भरो। हाँ, इतना ध्यान रहे, ज्यों ही तुम मुखौटे को जीवंत करते हो तो उस पर तुम्हें नियंत्रण भी साधना होगा। नहीं तो मुखौटा ही तुम पर चढ़ बैठेगा।" अरवसु अनुभवहीन अभिनेता है, पहली बार अभिनय कर रहा है। वह मुखौटा धारण करते हुए जैसे किसी सम्मोहन में वृत्रासुर का आहवान करते हुए कहता है, "वृत्रा वृत्रा! अकालों का असुर। नैदियों को अपने उदर में निगलकर छिपा लेने वाले दानव आ मुझे भर। मैं एक कीट हूँ। अब बन जाने दे मुझको सर्प-अहि। आह मेरा जबड़ा बड़ा कर कि मैं इंद्र को निगल जाऊँ। मुझे जठराग्नि दे ऐसी कि इंद्र को पचा जाऊँ। 'उपसंहार' में मुखौटा जीवंत हो उठता है किंतु अरवसु उसे नियंत्रण में नहीं रख पाता। इसलिए नाटक में जब इंद्र अपने भाई विश्वा (विश्वरूप) से विश्वासघात करके धोखे से उसकी हत्या कर देता है तो वृत्रासुर बना अरवसु इंद्र बने कर्तानट पर आक्रमण का नाट्य करने के बजाए सचमुच हिंसक प्रहार करने लगता है। किसी तरह जान बचा कर भागते कनिट को चुनौती देते हुए वह कहता है कि, "इंद्र, तुम छल तो सकते हो किंतु बच नहीं सकते।" मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा। तुम्हारे इस अशुद्ध अनुष्ठान और यज्ञ का ध्वंस करूँगा मैं। इसके साथ ही वह कृत्रिम नाट्य-संसार से बाहर निकल कर वास्तविक यज्ञ-मंडप को ध्वस्त करने दौड़ पड़ता है। रक्षक के हाथ से मशाल छीन लेता है। कर्तानट राजा के. अंगरक्षकों और यज्ञ के रक्षकों से उसे रोकने पकड़ने का आह्वान करता है, परंतु वृत्रासुर (अरवसु) एक अंगरक्षक की कमर से उसकी दुधारी तलवार खींचकर चिल्लाता है कि, "मैं ब्राह्मण हूँ। यदि तुमने मुझे रोका तो मैं आत्मघात कर

लूँगा। तुम सबके सिर ब्राह्मण-हत्या का पाप लगेगा। मैं राक्षस हूँ। जो भी मेरे पथ में बाधा बनेगा, वध कर दूंगा मैं उसका। कहाँ है इंद्र ?... इंद्र।" वह यज्ञ मंडप में आग लगा देता है। चारों ओर भगदड़ और कोहराम मच जाता है। उसे रोक और पकड़ पाने में असमर्थ अंगरक्षकों को लगता है कि वह कोई मनुष्य नहीं मायावी राक्षस है, जो हवा में तिरता है और पलक झपकते ही धूम्रवलय में विलीन हो जाता है, लेकिन अनुभवी और अभिनय-सिद्ध कर्तानट जान जाता है कि वास्तव में यह अरवसु नहीं है, "यह मुखौटा है, मुखौटा। मुखौटा जीवंत हो उठा है। उसका विसर्जन नहीं किया गया तो अनाहूत प्रलय होगी।" लेकिन सभी भयभीत, आतंकित और विवश हैं। ऐसे में अरवसु की करुणामयी और साहसी प्रेमिका नितिलाई आकर कोमलता से उसका मुखौटा उतार कर उसे स्वस्थ एवं स्वाभाविक मानवीय धरातल पर ले आती है। अरवसु और वृत्रासुर के मुखौटे के अंतःसंबंध आज के पाठक-दर्शक के लिए काफी जटिल, दुर्बोध यानी अविश्वसनीय से प्रतीत होते हैं। एक स्थिर और जड़ मुखौटा किसी प्राणधारी अभिनेता पर हावी होकर उसे अनचाहे एवं अकरणीय कृत्य करने पर कैसे विवश कर सकता है। इसे बुद्धि और तर्क से समझना-मानना बेहद मुश्किल है। प्रायः चमत्कारों के उत्तर विज्ञान के नहीं सहज आस्था और विश्वास के पास होते हैं। मुखौटे के जीवंत हो उठने की पहेली या समस्या को सुलझाने के लिए हमें मुखौटे-निर्माण की पारंपरिक प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा। हमारे यहाँ मुखौटा धर्म, अध्यात्म और अनुष्ठान से जुड़ा था। उसके निर्माण में विधि-विधान का पूरा पालन करना पड़ता था। इन्हें बनाने वाले आम व्यक्ति नहीं, बल्कि विशिष्ट श्रद्धावान आस्तिक कलाकार होते थे। किसी खास तीज-त्योहार के दिन पूजा करने के बाद ये कलाकार जंगल में जाकर मुखौटे के उपयुक्त लकड़ी का चुनाव करते थे। मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया इस प्रकार नियोजित की जाती थी कि वह किसी पूर्वनिर्धारित शुभ-दिन पर ही बनकर तैयार होता था। इस सारी प्रक्रिया के दौरान इन्हें बनाने वाले को व्रत रखकर मन, वचन, कर्म से शुद्ध एवं पवित्र जीवन जीना पड़ता था। मांस-मदिरा का पूरी तरह निषेध किया गया था। विश्वास था कि पूरी आस्था, शुद्धता और विधि-विधानपूर्वक बनाए गए मुखौटे में महान आत्मिक और पारलौकिक शक्तियों का वास होता है। मान्यता रही है कि मुखौटा-निर्माता, मुखौटाधारी और मुखौटे के बीच आत्मिक शक्ति और आध्यात्मिक ऊर्जा का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। कभी-कभी इनकी जादुई शक्तियों से प्रेक्षक भी स्वयं को अभिभूत-सा अनुभव करता है। ये शक्तियाँ दैवी यानी सकारात्मक भी होती हैं और राक्षसी यानी नकारात्मक भी। अभिनेता और मुखौटे के बीच शक्ति-संतुलन का बने रहना अनिवार्य है। यदि कभी मुखौटा अपनी अलौकिक शक्ति से दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले अभिनेता पर हावी हो जाता है तो परिणाम वैसा हो होता है, जैसा कि अग्नि और बरखा में वृत्रासुर का मुखौटा अरवसु को अपने काबू में करके उसे सब कुछ तहस-नहस करने पर बाध्य कर देता है। प्राचीनकाल में इसी प्रकार के शक्तिशाली जीवंत मुखौटों का प्रयोग पूजा -पाठ, तंत्र-मंत्र, चिकित्सा, भूत-प्रेत, टोने-टोटके और भविष्य-कथन इत्यादि के क्षेत्र में भी अक्सर किया जाता था। इनके रखरखाव और विसर्जन वगैरह का काम भी पूरे अनुष्ठान एवं निर्धारित विधि-विधान के साथ ही किया जाता था। उस समय मुखौटे, लकड़ी, धातु, कागज-कपड़ा जैसी सामग्री से बने और विचित्र रंग-रूपों में चित्रित की गई कुछ आकर्षक जड़ वस्तु मात्र न होकर जीवित शक्ति-पुंज हुआ करते थे। गिरीश कर्नाड ने इसे इसके उसी पारंपरिक मूल रूप में ही प्रयोग किया है, परंतु इस नाटक की महत्ता केवल 'मुखौटे' के इस

मौलिक और रचनात्मक प्रयोग के कारण ही नहीं है। यहाँ नाटककार ने, अपने अन्य नाटकों की तरह, इंद्र और वृत्रासुर की कथा के समांतर अरवसु और परावसु के जटिल संबंधों की रचना की है। अरवसु के अवचेतन में अपने हत्यारे और विश्वासघाती भाई परावसु के प्रति जो दमित प्रतिशोध-ग्रंथि है-वही अवसर पाकर वृत्रासुर के मुखौटे के बहाने इंद्र के ही प्रतिरूप बने परावसु और उसकी प्रतिष्ठा के प्रश्न-यज्ञ-को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। स्थिति की यह गहन नाट्य-विडंबना मुखौटे के प्रयोग को सार्थक और नाटक को महत्वपूर्ण बनाती है। इस बिंदु पर आकर कल्पना और यथार्थ तथा मुखौटे और अरवसु के चरित्र अत्यंत दिलचस्प एवं नाटकीय ढंग से परस्पर गड्ड-मड्ड होकर सत्य की अनूठी अभिव्यक्ति करते हैं।

आज के समय और समाज में मनुष्य आत्मकेंद्रित और द्विधाविदीर्ण होकर विभाजित मानसिकता वाले व्यक्ति में तब्दील हो गया है। आज की द्रौपदी को पति के रूप में पाँच अलग-अलग पुरुषों (पांडवों) के साथ नहीं रहना पड़ता, बल्कि एक ही पुरुष के पाँच यानी विभिन्न रूपों को एक साथ झेलना पड़ता है। इसी विखंडित व्यक्तित्व को रंगमंच पर साकार करने के लिए सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक द्रौपदी में सुरेखा के पति मनमोहन खन्ना के साथ चार मुखौटाधारियों का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ मुखौटों या नकाबों की आकृतियाँ नहीं, उनके रंग महत्वपूर्ण हैं। नकाबों के रंगों का रचनाकार ने प्रतीकात्मक इस्तेमाल किया है। पीले नकाबवाला व्यक्ति मनमोहन के सीनियर असिस्टेंट मैनेजर के रूप को व्यक्त करता है, जहाँ वह अपने दफ्तर, पद, काम और अपनी तरक्की के अलावा और कुछ भी जानता-समझता नहीं है। काले नकाबवाला उसके तामसिक रूप का प्रतिनिधित्व करता है, जो उसे व्यक्तिगत भौतिक उपलब्धियों एवं महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए चोर, बेईमान, झूठा, खुदगर्ज और जलील बनने पर मजबूर करता है। शराब, सिगरेट और हंटर (सत्ता-शक्ति) उसके अभिन्न अंग हैं। लाल नकाबवाला मनमोहन के वासनात्मक भ्रष्ट अंश का द्योतक है, जो उसे अपने आप पर शर्मिंदा होने के बावजूद रंजना, अंजना, वंदना और न जाने किस-किस से विवाहेत्तर अनैतिक रिश्ते बनाने पर बाध्य करता है। इसी तरह उसके सहज, सरल, सच्चे, ईमानदार और खद्दार सात्विक अंश का प्रतीक सफ़ेद नकाबवाला भी मौजूद है, जो लगातार उससे उपेक्षित, अपमानित, लांछित और तिरस्कृत होकर क्षत-विक्षत होने के बावजूद कहीं न कहीं अब भी उसके साथ है।

मुखौटों का एक बिल्कुल अलग रूप और नया आयाम हम मोहन राकेश के बहुचर्तित नाटक आधे- अधरे में देखते हैं। यहाँ अभिनेता के चेहरे पर मुखौटा लगाकर उसकी 'पहचान बदलने के बजाए नाटककार ने उसके पहनावे, चाल-ढाल, हाव-भाव, बात-चीत के अंदाज, व्यवहार और संवाद-लय के परिवर्तन को ही मुखौटा बनाकर उसकी पहचान को बदल दिया है। राकेश ने इसी माध्यम से एक ही अभिनेता के चेहरे को बिना मुखौटा लगाए काले सूट वाला आदमी, महेन्द्रनाथ सिंघानिया, जगमोहन और जुनेजा के अलग-अलग व्यक्तित्व प्रदान किए हैं। तभी तो पूरे नाटक और जीवन के दौरान उन सबसे अलग-अलग जूझने के बाद स्त्री (सावित्री) इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि, "अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा ?- चेहरा सबका एक ही!"

परंतु सबसे बड़ी विडंबना और समस्या तो यह है कि आज के उलझे हुए समय में व्यक्ति की जटिल और दोगली मानसिकता के चलते उसका वास्तविक चेहरा ही जिस कारीगरी और बारीकी से स्वयं एक मुखौटा

बन गया है-उसे किस दृष्टि से और कैसे पहचाना जाए ? आधुनिक युग की वैज्ञानिक तथा यथार्थ-आग्रही भौतिकवादी दृष्टि ने आज के नाटक में भले ही परंपरागत मुखौटों की प्रयोगशीलता एवं महत्ता घटा दी हो, लेकिन जीवन में उसकी आवश्यकता, उपयोगिता और सर्वोपरिता इस कदर बढ़ा दी है कि किसी भी व्यक्ति का असली चेहरा देख पाना यदि असंभव नहीं तो दुर्लभ जरूर हो गया है। मुखौटा आज के जीवन की जबरदस्त मजबूरी बन गया है, क्योंकि इस समय के मनुष्य के बारे में सदियों पहले विष्णुपुराण ने भविष्यवाणी कर दी थी कि :

कपटवेष धारणमेव महत्वहेतु ।

जिनके नकली चेहरे होंगे

केवल उन्हें महत्व मिलेगा। (अंधायुग : धर्मवीर भारती)

जयदेव तनेजा

नाट्य समीक्षक,

सह-आचार्य (सेवानिवृत्त)

हिंदी विभाग,

आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली-110021